बौद्ध साधना में सद्‌गुण विमर्श

– **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
राज नारायण महाविद्यालय
हाजीपुर–844101(बिहार)

'सद्‌गुण' अर्थात अच्छा गुण। किसी भी वस्तु का अच्छा गुण उसका मूलभूत गुण है जिससे उसकी पहचान होती है। मानव का मूलभूत गुण विवेकशीलता है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है और विशिष्ट बनाती है। व्यक्ति का आन्तरिक गुण उसका चरित्र होता है जिसके अनुरूप आचरण में उसकी प्रवृत्ति होती है। चरित्र से ही उसके व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। सद्‌गुण व्यक्ति का वह उत्कृष्ट मनोवृत्ति है जो उसे सदैव नैतिक कर्त्तव्य करने के लिये प्रेरित करती है। बौद्ध साधना में निर्वाण–पथ सद्‌गुण के विकास का पथ है जहाँ साधक सद्‌गुणों के आलम्बन से आन्तरिक यात्रा आरम्भ करके निर्वाण–पद के रूप में सद्‌गुण–सम्पन्नता को प्राप्त करता है।

बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध हैं। महात्मा बुद्ध का आविर्भाव शाक्य–वंश के राजा सूर्यवंशी क्षत्रिय शुद्धोदन की भार्या महामाया देवी के गर्भ से कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी वन में हुआ। उन्नतीस वर्ष की भरी युवावस्था में उन्होंने सभी सांसारिक वैभव त्यागकर दुःखनिरोध एवं अनन्त सुख की खोज में महानिष्क्रमण (गृह–त्याग एवं परिव्राजकत्व) किया। छः वर्ष की कठिन तपस्या एवं साधना के उपरान्त पैंतीस वर्ष की आयु में गया के पास बोधिवृक्ष के नीचे मार[1]–विजय करके वे बोधि–सम्पन्न 'सम्यक् सम्बुद्ध' बने। बोधि–सम्पन्न होकर वे वाराणसी के पास 'ऋषि–पत्तन मृगदाव' (सारनाथ) गये और वहाँ पाँच भिक्षुओं (जो उनके पुराने साधक–साथी थे) को उन्होंने अपना शिष्य बनाकर अपने साक्षात्कृत सत्य का सर्वप्रथम उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' की संज्ञा दी गई है। धर्मचक्र प्रवर्तन के तदन्तर वे अपने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों तक अनवरत भ्रमण–भिक्षाटन करते हुये 'धर्म' का उपदेश देते रहे। अस्सी वर्ष की आयु में कुशीनगर (कसया) के पावापुरी नामक स्थान में उन्होंने परिनिर्वाण (शरीर–त्याग) को प्राप्त किया। यह एक विचित्र संयोग है कि भगवान बुद्ध का आविर्भाव, बोधि–प्राप्ति एवं परिनिर्वाण – ये तीनों घटनाएँ एक ही दिन वैशाख पूर्णिमा को हुई। इसलिये वैशाख पूर्णिमा को बौद्धधर्म में बहुत ही पवित्र दिन माना जाता है।

बौद्धधर्म का अभ्युदय भारत में ब्राह्मणों के कर्मकाण्डमय धर्म के विरूद्ध उपनिषदों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आध्यात्मिक क्रान्ति के रूप में हुआ। महात्मा बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके शिष्य श्रवण कर उसे याद रखते थे। प्रथम शताब्दी

ई0पू0 तक उनके उपदेश एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से पहुँचाये जाते रहे और इसके बाद बौद्धधर्म के विभिन्न शाखाओं ने अपने–अपने धर्मग्रन्थों को लिखित रूप दिया। इनके तीन प्रमुख ग्रन्थ हैं– सुत्त–पिटक (संस्कृत–सूत्रपिटक), विनय–पिटक और अभिधम्म पिटक (संस्कृत– अभिधम्म–पिटक); जिसे पालि भाषा में तिपिटक (संस्कृत–त्रिपिटक) कहा जाता है। प्रत्येक पिटक में अनेक ग्रन्थ हैं, इसलिये 'पिटक' (पेटी) नाम पड़ा। सुत्त–पिटक में महात्मा बुद्ध के प्रवचन और संवाद संकलित हैं, विनय–पिटक में संघ के लिये आचार–संहिता संकलित है और अभिधम्म–पिटक में धर्म और दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्त संकलित है।

बौद्धधर्म का अभ्युदय भारत में ब्राह्मणों के कर्मकाण्डमय धर्म के विरूद्ध आध्यात्मिक क्रान्ति के रूप में हुआ। महात्मा बुद्ध ने लोगों का ध्यान शुष्क तत्त्वमीमांसा के वाग्जाल से निकालकर जीवन के दुःखों को दूर करनेवाले आचारशास्त्र की ओर ले गये। बौद्धधर्म की विविध धाराएँ हैं। ये धाराएँ एक–दूसरे से कितनी भी अलग क्यों न लगें, परन्तु इनके मूल उपदेश के आधारभूत तत्त्व एक समान हैं। बौद्ध धर्म–दर्शन की मूल मान्यता है– 'सर्वमनित्यम् सर्वमनात्मं निर्वाणं शान्तम्' अर्थात् सब कुछ अनित्य है, समग्र वस्तुएँ आत्मा से रहित है तथा केवल निर्वाण ही शान्त है। इस प्रकार अनित्यता, अनात्मता एवं निर्वाण – इसी त्रिसूत्री शिक्षा पर बौद्ध धर्म–दर्शन का भव्य प्रासाद आधारित है।

भगवान बुद्ध के इस त्रिसूत्री शिक्षा का आधार उनका 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धान्त है। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धधर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त है जिसमें बुद्ध की समस्त शिक्षाओं का सार निहित है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' दो शब्दों के संयोग से बना है– 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद'। इस प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का अर्थ हुआ– 'ऐसा होने पर (अस्मिन सति) वैसा होता है (इदं भवति)' अथवा 'कारण पर आश्रित कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त' (हेतु प्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः[2])। इस प्रकार कार्य कारण–सापेक्ष है। बुद्ध के अनुसार कारण–कार्य के मध्य अनिवार्यता तो है, किन्तु यह अनिवार्यता सोपाधिक है। यह सोपाधिक इसलिये है कि कोई सन्तति अस्तित्व में तब आती है, जब कुछ शर्तें पूरी होती हैं। वह अनिवार्य इसलिये है कि कोई सन्तति एक बार प्रारम्भ होने पर तब तक समाप्त नहीं होती जब तक ये उपाधियाँ (शर्तें) बनी रहती हैं। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को बुद्ध ने 'धर्म' की संज्ञा दी है, उस धर्म की जिसमें 'बोधि' अंतर्निहित है और जिसका साक्षात्कार उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे प्राप्त कर अमृतत्त्व को प्राप्त किया। स्वयं भगवान बुद्ध ने कहा कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार करता है, वह धर्म का साक्षात्कार करता है।[3] जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वही धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वही प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है।[4] भगवान बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की महत्ता बताते हुये यहाँ तक कहा कि यह उनसे

भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तथागत उत्पन्न हो या न उत्पन्न हो किन्तु धर्म की अचल स्थिति धर्म–नियामता यानी इदं–प्रत्ययता (प्रतीत्यसमुत्पाद) तो सर्वदा विद्यमान रहेगी।[5] इस 'प्रतीत्यसमुत्पाद' सिद्धान्त के आधार पर भगवान बुद्ध की त्रिसूत्री शिक्षा आधारित है।

अनित्यता :–

बौद्धधर्म के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थ अनित्य हैं, ऐसी कोई भी वस्तु विद्यमान नहीं जिसे स्थायिता प्राप्त हो। जगत् परिणामशाली है। कोई भी वस्तु स्थावर नहीं है। जगत् में 'सत्ता' नहीं है, 'परिणाम' ही केवल सत्य है। धम्मपद में कहा गया है कि जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है, वह भी नाशवान है। जो महान मालूम पड़ता है उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है, वहाँ मरण भी है। सब कुछ अनित्य है। यह संसार अनित्य है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो परिवर्तनशील न हो। यहाँ जो भी अस्तित्व में है, सब अनित्य और नश्वर है। न तो यह संसार और न ही यह शरीर वास्तव में अपना है। जब यह शरीर अनित्य है तो उससे मोह रखना भी दुःखदायी ही होगा।

अनात्मता :–

बौद्धधर्म में 'अनात्मा' का एक विशेष अर्थ है। सभी वस्तुएँ आत्मा (स्वभाव) से रहित हैं। जिसे हम जीवात्मा (पुद्गल) कहते हैं वह स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह तो मानसिक वृत्तियों का संघातमात्र है (पुद्गल–नैरात्म) तथा वैसे ही वाह्य–जगत के पदार्थ (धर्म) की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह तो कतिपय गुणों का समुच्चयमात्र है (धर्म–नैरात्म)। इस प्रकार जीवात्मा (पुद्गल) अनात्म अर्थात् सापेक्ष है (क्लेशावरण) तथा वैसे ही पदार्थ (धर्म) भी अनात्म अर्थात् सापेक्ष है (ज्ञेयावरण)। वस्तुतः अन्तर्जगत् एवं वाह्य–जगत् के सभी पदार्थ संस्कृत (कर्म–संस्कारों से उत्पन्न) है। जो संस्कृत है वह अनित्य है, दुःखरूप है, अनात्म है; वह मेरा नहीं है, मैं वह नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है।[6] समस्त संस्कृत–धर्म – चाहे वे रूप, चित्त, चैतसिक (चित्त का गुण) या चित्तप्रयुक्त (चित्त द्वारा निर्मित) हों – हेतु प्रत्यय के कारण उत्पन्न होते हैं। महात्मा बुद्ध मनुष्य को पाँच स्कन्धों में बाँटकर उसके सम्पूर्ण शारीरिक–मानसिक अस्तित्व का विश्लेषण करते हैं। ये पंचस्कन्ध हैं– रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। जिसे हम सामान्यतः आत्मा कहते हैं, वह पंचस्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का संघात है। इन अनात्म पंचस्कन्धों का क्षणिक प्रवाह चलते रहता है, ये उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहते हैं। आमतौर पर हम स्कन्धों के रूप में दिखाई देनेवाले एक या एक से अधिक स्कन्धों को अथवा उन्हें सामूहिक रूप में वास्तविक आत्मा समझने की भूल करते हैं।[7]

वस्तुतः बुद्ध ने आत्मा का खण्डन नहीं किया, बल्कि उन्होंने 'अहंकार–ममकार युक्त प्रमाता' की पारमार्थिक सत्ता का खण्डन किया। बुद्ध की मान्यता है कि असली

आत्मा (अत्ता) शुद्धचेतना है जो बुद्धिग्राह्य नहीं है, अपरोक्षानुभूतिरूप है। यह शुद्धचेतना जीवन की सामान्य चेतना, जिसे बौद्धधर्म में 'विज्ञान' कहा गया है तथा जो निरन्तर बदलती रहती है और दुःखों का कारण है, से सर्वथा भिन्न है। परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जो आत्मन् (अत्ता) के विचार से मेल खाते हैं; जैसे– 'तथागतगर्भ', 'विज्ञप्तिमात्रता', 'आलयविज्ञान' आदि।

निर्वाण :–

महात्मा बुद्ध के अनुसार निर्वाण ही शान्त है और इसके लिये उनका मुख्य उपदेश 'आत्मदीपो भव' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है– 'अत्तदीवाः भवथ अत्तशरणाः' अर्थात् आत्मा की शरण में जाकर आत्म–प्रकाश से स्वयं जगमगाओ। सद्गुण के आलम्बन से साधना द्वारा बन्धनरहित पूर्ण मुक्ति (अनुत्पादा विमुक्ति) प्राप्त की जा सकती है। यही निर्वाण (निब्बान) की अवस्था है, जिसे केवल प्रज्ञावान स्वयं व्यक्तिगत रूप से अनुभव कर सकते हैं– 'पच्छत्तं वेदितब्बो विंञूही'[8]। बौद्ध–धर्म के अनुसार जो निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, वही धम्म (धर्म) में निवास करता है; यही मोक्ष है, यही नित्य शान्ति है। पालि त्रिपिटक संयुक्तनिकाय के वक्कलि–सुत्त में बुद्ध अपने आप को 'धर्मकाय' बताते हुये दृढतापूर्वक कहते हैं– 'जो धम्म को देखता है वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है वह धम्म को देखता है'[9]।

बौद्धधर्म के अनुसार मानव–जीवन हमें इसलिये प्राप्त होता है ताकि हम इस सांसारिक–चक्र ('संसार' का शाब्दिक अर्थ है– 'बहते जाना', 'भटकते जाना') से मुक्त होकर निर्वाण के अमृत–पद को प्राप्त कर सकें। महात्मा बुद्ध ने 'सर्वं दुःखम्' का सिंहनाद किया और कहा कि 'दुःख' समस्या के समाधान से जुड़े हुये प्रश्नों का चिन्तन ही उपयोगी है। तत्त्वमीमांसीय प्रश्न तो स्थापनीय है, व्याकरणीय नहीं। तत्त्वमीमांसीय प्रश्न को अव्याकृत प्रश्न मानते हुये एक कुशल चिकित्सक की भाँति उन्होंने जीवन तथा उससे संबंधित यथार्थ सत्य के रहस्य का उद्घाटन किया और चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया जो बौद्धधर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है। भगवान बुद्ध के अन्य सभी उपदेश इन्हीं आर्यसत्यों से सम्बद्ध है। वस्तुतः सारा बौद्धधर्म इन्हीं में अन्तर्भूत है।[10] ये आर्यसत्य हैं :–

(क) सर्वंदुःखम् : संसार में सब कुछ दुःखमय है,

(ख) दुःखसमुदय : इन दुःखों का कारण है,

(ग) दुःखनिरोध : दुःख–निवृत्ति सम्भव है तथा

(घ) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद : दुःख–निवृत्ति के उपाय अर्थात् दुःख की समस्या के समाधान का एकान्तिक एवं आत्यन्तिक उपाय है।

इन आर्यसत्यों को 'आर्यसत्य' इसलिये कहा गया है कि ये वैसा सत्य है जिसे आर्य–जन अर्थात् श्रेष्ठबुद्धि के लोग ही समझ सकते हैं और इस पर चल सकते हैं। इन चार आर्यसत्यों में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द 'पीड़ा' का वाचक नहीं है। 'पीड़ा' शब्द से यह भाव उत्पन्न होता है कि जीवन कष्ट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। किन्तु महात्मा बुद्ध ने यह नहीं कहा कि जीवन में सुख है ही नहीं। उनका तो सिर्फ यह कहना है कि सांसारिक सुख अनित्य होने के कारण दुःखकारक है।

सर्वंदुःखम् :–

भगवान बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य है कि संसार दुःखमय है, सांसारिक पदार्थ नश्वर एवं परिवर्तनशील होने के कारण दुःखरूप है। इस अनित्य संसार में स्थायी सुख की कामना नहीं की जा सकती। संसार में जिसे सुखद समझते हैं, वह भी दुःखपूर्ण है। लौकिक सुख भी वस्तुतः दुःख से घिरा है। इस सुख को प्राप्त करने के प्रयास में दुःख है, प्राप्त हो जाने पर इसके नष्ट होने की चिन्ता दुःखदायी है और नष्ट होने पर तो दुःख है ही। यद्यपि इस संसार में दुःख के अनगिनत रूप हैं, फिर भी जन्म, जरा, रोग और मृत्यु – ये मानव–जीवन की अनित्यता के चार प्रमुख दृश्यमान लक्षण हैं, जो दुःखकारी हैं। व्यक्ति मृत्यु–पर्यन्त दुःख ही भोगता है। मृत्यु भी दुःख का अन्त नहीं है, अपितु नये दुःखों की शुरूआत है क्योंकि उसके बाद पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार जन्म–मृत्यु–रूपी संसार में संसरण करते हुये व्यक्ति दुःखों को ही भोगता है। इसलिये यह सारा संसार ही दुःख से व्याप्त है।[11] दुःख का एक और सामान्य कारण है– अपने प्रियजनों को खोना। अपने प्रियजनों को खोकर अपनी आँसुओं की घाटी में से हमें अकेले ही गुजरना होता है। बुद्ध कहते हैं कि इस संसार में जो चिरकाल से लोगों के अश्रु गिरे हैं, वे चारों समुद्र के जल से अधिक हैं।[12] इसलिये अंधकार (अज्ञान) से घिरे हुये इस संसार में प्रकाश की खोज करो।[13]

दुःखसमुदयः :–

'समुदय' का अर्थ है– 'कारण'। दूसरे आर्यसत्य में भगवान बुद्ध ने दुःख के कारण–श्रृंखला को बताते हुये दुःख को प्रतीत्यसमुत्पन्न बताया है।[14] 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के अन्तर्गत द्वितीय तथा तृतीय आर्यसत्य आते हैं; दुःख की उत्पत्ति का कारण है (दुःख–समुदय) एवं इस कारण का निरोध कर देने पर दुःख भी नहीं रहता (दुःख–निरोध)। दुःख संसार है, दुःख–निरोध निर्वाण है। सापेक्ष दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद दुःख–समुदयरूप 'संसार' है और वही परमार्थिक दृष्टि से दुःख–निरोधरूप अमृत 'निर्वाण' है। सापेक्ष रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद कारण–कार्यवाद है। जो उत्पन्न होता है, वह कार्य है; जो कार्य है, वह सापेक्ष है; जो सापेक्ष है, वह वस्तुतः न 'सत्' है और न 'असत्' है, केवल 'प्रतीति' है। इस प्रकार इन्द्रियों तथा बुद्धिविकल्पों द्वारा अनुभूत समस्त

लौकिक पदार्थ सापेक्ष और प्रातीतिक है। पारमार्थिक दृष्टि से यही प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपंचोपशम् अमृत निर्वाण है।

द्वितीय आर्यसत्य 'दुःख–समुदय' कारण–कार्य शृंखलारूप द्वादशांग–चक्र है, जिसे भवचक्र, संसारचक्र और धर्मचक्र भी कहा जाता है। द्वादशांग–चक्र के द्वादश अंग और तीन काण्ड हैं। पूर्वकाण्ड के दो, मध्य के आठ और उपरान्त के दो अंग हैं।[15] ये द्वादश अंग हैं– अविधा, संस्कार, विज्ञान, नाम–रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा–मरण। इन द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद की स्कन्ध–सन्तति तीन भागों में वृद्धि को प्राप्त होती है। इनमें प्रथम दो अंग (अविधा और संस्कार) पूर्व–जीवन से, अंतिम दो अंग (जाति और जरा–मरण) भविष्य–जीवन से एवं बीच के आठ अंग (विज्ञान से भव तक) वर्तमान–जीवन से सम्बद्ध है। इन अंगों में पूर्व अंग उत्तर अंगों का कारण है और उत्तर अंग पूर्व अंग का कार्य है। पूर्व अंग है तो उससे उत्तर अंग अवश्य उत्पन्न होगा और चक्र चलता रहेगा। इस प्रकार पूर्व–जीवन में किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप ही वर्तमान जीवन है और वर्तमान जीवन का कर्म ही हमारा भविष्य जीवन निर्धारित करेगा।

1. **अविधा** : 'अविधा' दुःख–समुदयरूप द्वादशांग–चक्र का मूल कारण है। अविधा ही इस दुःखरूप संसार की जननी है। अविधा का कोई कारण नहीं है, यह अनादि है। लौकिक व्यक्तिगत अज्ञान की निवृत्ति लौकिक सविकल्प बौद्विक ज्ञान से हो जाती है लेकिन इस मूल अविधा का नाश सविकल्प बौद्धिक ज्ञान से नहीं हो सकता क्योंकि सविकल्प बुद्धि स्वयं ही अविद्या का कार्य है। इसका नाश निर्विकल्प निरपेक्ष अपरोक्षानुभूति द्वारा ही सम्भव है, जिसे बौद्धधर्म–दर्शन में 'बोधि' या 'प्रज्ञा–पारमिता' कहा गया है।
2. **संस्कार** : अविधा से 'संस्कार' उत्पन्न होता है। संस्कार का अर्थ है– कर्म–संस्कार अर्थात् संस्कारों के रूप में संचित कर्म। अविधा और कर्म–संस्कार 'कारण–शरीर' है, जो पुनर्जन्म का हेतु है।
3. **विज्ञान** : संस्कार से 'विज्ञान' उत्पन्न होता है। यहाँ विज्ञान का तात्पर्य है– अविधा और कर्म–संस्कारों से कलुषित विज्ञान (चेतना)। अविद्या–संस्कार–निर्मित कारण–शरीर शुद्ध–चैतन्य (आत्मा) को आवृत्त कर उसे सीमित व्यक्तिगत विज्ञान के रूप में प्रतीत कराता है। बौद्ध धर्म–दर्शन के अनुसार कारण–शरीर से युक्त 'विज्ञान' प्रतिसंधि–स्कन्ध है जिसके कारण ही सत्व जन्म–मरण–चक्र में संसरण करता है। यही पुराने और नये जीवन को संयुक्त रखनेवाली कड़ी है, जिसका अस्तित्व निर्वाण–पर्यन्त बना रहता है। प्रतिसन्धि–क्षण या उत्पत्ति–भव–क्षण में कक्षिगत पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान स्कन्ध) विज्ञान है।

4. **नाम–रूप** : अविद्या–संस्कार–निर्मित कारण–शरीर से आवृत विज्ञान कर्म–फल भोगने के लिये शरीर (सूक्ष्म और स्थूल) की अपेक्षा रखता है जिसमें इन्द्रिय, मन आदि उपकरण हों। अतः विज्ञान से 'नाम–रूप' उत्पन्न होता है। यहाँ 'नाम–रूप' में 'नाम' का अर्थ है– मानसिक और 'रूप' का अर्थ है– भौतिक; अतः 'नाम–रूप' का अर्थ हुआ 'विज्ञान से अनुप्राणित मनोभौतिक शरीर'। गर्भस्थ भ्रूण का मनोभौतिक शरीर 'नाम–रूप' है। बौद्ध धर्म–ग्रन्थों के अनुसार गर्भ–क्षण से लेकर शारीरिक–मानसिक अवस्थाओं की रचना तक का समय ही नाम–रूप कहलाता है। वस्तुतः यह विज्ञान–क्षण से लेकर षडायतन तक की उत्पत्ति की अवस्था है। इसे माता के गर्भ में प्रतिसन्धि की अवस्था भी कहते हैं।
5. **षडायतन** : विज्ञानानुप्राणित नाम–रूप से 'षडायतन' उत्पन्न होता है। ये छः आयतन हैं– पंचज्ञानेन्द्रिय, जो पाँच वाह्येन्द्रिय हैं और मन, जो अन्तर्रिन्द्रिय है। पंचज्ञानेन्द्रिय हैं– चक्षु, रसना, ध्राण, त्वक् और श्रोत्र; जो क्रमशः रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करती है और अन्तर्रिन्द्रिय मन में मनोभाव ग्रहण होता है। इस प्रकार छः इन्द्रियाँ या आयतन हैं, जो भोग प्राप्त करने के उपकरण या साधन हैं। इन्द्रियों के प्रादुर्भाव–काल से इन्द्रिय–विषय–विज्ञान के सन्निपात काल तक षडायतन है।
6. **स्पर्श** : षडायतन से 'स्पर्श' उत्पन्न होता है। स्पर्श का अर्थ है– विज्ञानानुप्राणित इन्द्रिय का विषय–सम्पर्क। विज्ञानानुप्राणित होने से षडायतन की नैसर्गिक प्रवृत्ति इस सम्पर्क की ओर होती है। स्पर्श सुख–दुःखादि के कारण–ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने की पूर्व की अवस्था है; यथा– बालक जब तक सुख–दुःखादि को परिच्छिन्न करने में समर्थ नहीं होता, तब तक की अवस्था स्पर्श कहलाती है।
7. **वेदना** : स्पर्श से 'वेदना' उत्पन्न होती है। वेदना का अर्थ है– इन्द्रिय–संवेदन, या इन्द्रियानुभव। वेदना सुख–दुःख–मोहात्मक होती है। वेदना राग की प्रकर्षिणी अवस्था है; जब तक राग का समुदाचार नहीं होता, तब तक की अवस्था है। वस्तुतः वेदना राग की पूर्वावस्था है, जिसके कारण राग उत्पन्न होता है।
8. **तृष्णा** : वेदना से 'तृष्णा' उत्पन्न होता है। तृष्णा का अर्थ है– इन्द्रियसुखोपभोग की तीव्र इच्छा या सांसारिक सुखों के उपभोग का उत्कट् राग। इस अवस्था में राग का समुदाचार होता है। जब इन्द्रियों का विषयों से संपर्क होता है, तो हम सुखकर विषयों को ग्रहण करना चाहते हैं तथा दुःखकर विषयों को त्यागना चाहते हैं। सुखकर विषयों के प्रति आकर्षण या आसक्ति ही तृष्णा है।
9. **उपादान** : तृष्णा से 'उपादान' उत्पन्न होता है। विषय–सुख में अत्युग्र आसक्ति उपादान है। उपादान में चतुर्विध क्लेशों का समुदाचार होता है– कामोपादान, दृष्टिमुपादान, शीलोपादान और आत्मोपादान। कामोपादान काम–सुख अर्थात्

इन्द्रियजन्य सुख के लिये विषयों को ग्रहण करना है। दृष्टिमुपादान मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करना है। शीलोपादान (व्रतोपादान) मिथ्याशील या व्रतों को ग्रहण करना है। आत्मोपादान दृष्टिकोण का भ्रम है जिसके कारण हम अज्ञानवश क्षणिक पंचस्कन्धों को शाश्वत आत्मा मान बैठते हैं तथा उसके चिन्तन एवं मनन में जीवन–यापन करना चाहते हैं।

10. **भव** : उपादान से 'भव' उत्पन्न होता है। भव का अर्थ है– फलोन्मुख कर्मों के फल–भोग हेतु जन्म (पुनर्जन्म) लेने का संकल्प। भव वह अवस्था है जब आसक्ति के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के भले–बूरे कर्मों का अनुष्ठान करता है। ये कर्म हमारी तीव्र भोगासक्ति के कारण हममें जन्म (पुनर्जन्म) लेने की उत्कट इच्छा या संकल्प भी उत्पन्न करता है। अतः कर्म और उससे उत्पन्न संकल्प दोनों 'भव' के अन्तर्गत आते हैं। पूर्वजन्म के 'संस्कार' के समान ही वर्तमान जीवन का 'भव' है।

11. **जाति** : भव से 'जाति' उत्पन्न होती है। जन्म ग्रहण करना ही जाति है। व्यक्ति भव–चक्र में पड़कर शरीर धारण करता है। इसी शरीर धारण करने की क्रिया का नाम जाति है। जन्म–ग्रहण से व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक अंगों का निर्माण होने लगता है। बौद्ध–मत के द्वादश निदान में जाति पुनःप्रतिसन्धि है। यहाँ जाति का अर्थ है– 'जन्म' और उसमें पुनर्जन्म भी समाविष्ट है।

12. **जरा–मरण** : जाति से 'जरा–मरण' उत्पन्न होता है। जरा–मरण यहाँ दुःखों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'जरा' का अर्थ वृद्धावस्था है, जो दुःखरूप है तथा 'मरण' का अर्थ मृत्यु है, जिससे बड़ा कोई दुःख नहीं है। यह दुःखरूप जरा–मरण–चक्र अनवरत चलते रहता है क्योंकि अविधा और कर्म–संस्कार इस चक्र को चलाते रहते हैं। 'जरा–मरण' भविष्य जीवन के 'विज्ञान' से लेकर 'भव' तक के (3–10) निदानों को अपने में समाविष्ट किये है।

इस प्रकार प्रतीत्यामुत्पाद चक्र ही दुःख–समुदय का कारण है और अविधा इसकी जननी है। अविधाजन्य तृष्णा के कारण संसार में आसक्ति होती है और भवचक्र चलता रहता है। प्रतीत्यसमुत्पादरूप द्वादश–निदान हमारे भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन में व्याप्त है। वर्तमान जीवन का कारण अतीत जीवन है और वर्तमान जीवन भविष्य जीवन का कारण है। यदि वर्तमान में अज्ञान के वशीभूत होकर कर्म करेंगे तो फिर इन कर्मों से संस्कार उत्पन्न होंगे और संस्कार–रूपी बीज हमारे भविष्य जीवन का कारण होगा। इस तरह अविधावश कर्म करने से हम भव–चक्र में फँसकर सांसारिक दुःखों से आक्रान्त होते रहेंगे।

बौद्धधर्म नियतिवाद में नहीं वरण कर्मवाद में विश्वास करता है। बौद्धधर्म मानता है कि मनुष्य स्वयं अपने जीवन तथा भाग्य का निर्माता है। वह स्वयं अपने सुख–दुःख का कारण है। हमारा जैसा आचरण होगा, वैसा ही परिणाम हमें प्राप्त होगा।

हमारा बुरा आचरण ही हमारे दुःखों का कारण है। सद्गुण के आलम्बन से हम सत्कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं और सत्कर्म द्वारा ही हम अपना कल्याण कर सकते हैं। सभी मनुष्यों के भीतर जो परमतत्त्व है, उसके दायरे के बाहर कोई धर्म या बुद्ध नहीं है। इसलिये महात्मा बुद्ध ने कहा– 'आत्मदीपोभव'।

दुःख–निरोधः :–

तृतीय आर्यसत्य दुःख–निरोध है। भगवान बुद्ध कहते हैं कि जब दुःख और उसका कारण है, तब उसके कारण का निरोध कर दुःख का भी निरोध किया जा सकता है। वस्तुतः दुःख का यथार्थ कारण 'तृष्णा' है। तृष्णा एक ओर अविधा पर आश्रित रहती है तो दूसरी ओर सुख के अनुभव पर। अभिधकर्मकोष में यह स्पष्ट कहा गया है कि अविधायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है और अविधायुक्त वेदना से तृष्णा। कई लोग अविधा को क्षेत्र, कर्म को बीज और तृष्णा को पुनर्जन्म का पोषकतत्त्व कहते हैं। जैसे जड़ के सर्वथा नष्ट न होनेवाले तने से कटा हुआ वृक्ष फिर बढ़ जाता है, वैसे ही तृष्णा के समूल नष्ट न होने से यह दुःख बार–बार उत्पन्न होते रहता है।[16] वर्तमान जीवन में मानव विषय–भोगों का दास है। विषय–भोगों की लिप्सा अर्थात् आसक्ति उसे बार–बार जन्म लेने के लिये विवश करती है। आसक्ति संसार है और आसक्ति का अभाव ही निर्वाण है। आसक्ति या आकर्षण तीन प्रकार का होता है– काम–तृष्णा, भव–तृष्णा और विभव–तृष्णा।[17] काम–तृष्णा के वशीभूत होकर वह अनेक विषयों की कामना करता है, भव–तृष्णा में वह संसार में बने रहने की कामना करता है तथा विभव–तृष्णा में वह मानता है कि मृत्यु–पश्चात् लौकिक जगत का सबकुछ विनष्ट हो जायेगा, अतः वह पारलौकिक स्वर्गादि की कामना करता है। बौद्धमत के अनुसार उक्त तीन आसक्तियाँ मुख्य हैं। इन आसक्तियों के कारण ही मनुष्य लौकिक–पारलौकिक सुखों के पीछे दौड़ता है, विषय–भोग में वह थकता नहीं है। अन्त में विषय ही व्यक्ति का भोग कर जाता है– 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'।

बौद्धधर्म कर्म को चैतसिक प्रत्यय के रूप में स्वीकार करता है और मानता है कि जीव–लोक और मानव–लोक के आचार–विचार एवं स्वरूप की भिन्नता का आधार कर्म ही है, कोई पारलौकिक सत्ता नहीं। कर्म के ऊपर ही मनुष्य की हीनता तथा श्रेष्ठता का निर्धारण होता है। मज्झिकनिकाय में माणवक के प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान कहते हैं– 'हे माणवक ! प्राणी कर्म–स्वीकाय, कर्म–तायाद, कर्म–योनि, कर्म–बन्धु और कर्म–प्रतिशरण है'[18]। प्राणी कर्म–स्वीकाय है अर्थात् प्राणी की काया कर्म ही है, जो सदैव उसके साथ होता है; प्राणी कर्म–तायाद है अर्थात् प्राणी के सुख–दुःख का कारण उसका कर्म ही है, प्राणी कर्म–योनि है अर्थात् कर्मानुसार ही उसको यह योनि प्राप्त है, प्राणी कर्म–बन्धु है अर्थात् कर्म ही उसका साथी है और प्राणी

कर्म–प्रतिशरण है अर्थात् कर्म के ही वह अधीन है। इस प्रकार बौद्धधर्म में संसार का आसन्न कारण कर्म को ही माना गया है।

बौद्धधर्म में चेतना को ही कर्म कहा गया है– 'चेतनाहं भिक्खवे कमं वदामि'[19]। यद्यपि बौद्धधर्म में 'कर्म' शब्द का प्रयोग कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के अर्थ में हुआ है तथापि समुत्थान–दृष्टि से मानसिक–कर्म की प्रमुखता है क्योंकि जितने भी अच्छे–बुरे अथवा कायिक–वाचिक कर्म हैं– सभी का उद्गमस्थल मन ही है। ये सभी कर्म–फल मानसिक दशा पर निर्भर है। इसीलिये कहा गया है– 'मन की ही प्रवृत्ति होती है तथा मन की ही विमुक्ति होती है'[20]। इस समुत्थान–कारण की प्रधानता के आधार पर कर्मों का द्विविध वर्गीकरण किया गया है– चेतना–कर्म और चेतयित्व–कर्म। चेतना–कर्म मानसिक–कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनों कायिक और वाचिक कर्म 'चेतयित्व–कर्म' कहे गये हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्धधर्म में 'कर्म' का अर्थ 'क्रिया' से अधिक विस्तृत है। यहाँ पर 'कर्म' शब्द में कायिक, मानसिक और वाचिक क्रिया, उस क्रिया का विशुद्ध चेतना पर पड़नेवाला प्रभाव, उस प्रभाव के फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निर्धारण और उन भावी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होनेवाली अनुभूति – सभी शामिल है।

भगवान बुद्ध ने कर्म के चार प्रकार के फल (विपाक) का उल्लेख किया है– (क) शुक्ल–कर्म अर्थात् जिस कर्म का विपाक शुक्ल (शुभ) होता है, (ख) कृष्ण–कर्म अर्थात् जिस कर्म का विपाक कृष्ण (अशुभ) होता है, (ग) शुक्ल–कृष्ण कर्म अर्थात् जिस कर्म का विपाक शुक्ल–कृष्ण मिश्रित है तथा (घ) शुक्ल–कृष्ण–रहित कर्म अर्थात् वैसे कर्म जिसका विपाक शुक्ल–कृष्ण रहित है। उपर्युक्त चार प्रकार के कर्म–फलों के पहली तीनों स्थितियों के बारे में यह कहा गया है कि इन स्थितियों में व्यक्ति अपने कर्मों का उत्तराधिकारी है– 'कम्मदायाता सत्ता'; केवल अन्तिम स्थिति में ही कर्म–क्षय होता है। शुक्ल–कृष्ण–रहित कर्म तृष्णाविहीन कर्म होता है, इसलिये यह कर्म बन्धनकारी नहीं होता। इस प्रकार के कर्म को बौद्धमत में 'कुशल कर्म' कहा गया है। इसे ही गीता में 'अनासक्त कर्म' कहा गया है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार भुने हुए बीजों से वृक्ष उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार कामना एवं तृष्णा से रहित होकर किये गये कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते।[21]

बौद्धधर्म में सद्गुण को कुशल–मनोवृत्ति (लोभ, द्वेष, मोहादि से रहित मनोवृत्ति) तथा दुर्गुण को अकुशल–मनोवृत्ति (लोभ, द्वेष, मोहादि से युक्त मनोवृत्ति) कहा गया है। यदि साधक कुशल–मनोवृत्ति (सद्गुण) से युक्त होकर कर्म करे तो अकुशल–मनोवृत्ति (दुर्गुण) का लोप हो जाता है। इसीलिये धम्मपद में कुशल–मनोवृत्ति यानी सद्गुण में आसक्ति रखने का निर्देश दिया गया है।[22] बौद्धधर्म में अकुशल–मनोवृत्ति के शमन के लिये मनोनिग्रह को अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

मन की प्रवृत्ति चंचल है। अतः बिना मन को नियंत्रित किये सद्‌गुण की स्थापना सम्भव नहीं है। मन को नियंत्रित करनेवाला ही नैतिक विकास कर सकता है और सुखी हो सकता है।[23] मन के नियंत्रित नहीं रहने से इन्द्रियों द्वारा विषयों का स्पर्श होने पर जो मनोभावना (वेदना) उत्पन्न होती है वह तृष्णा को उत्पन्न करती है और तृष्णा द्वारा बन्धन (उपादान) दृढ होता है किन्तु यदि मन नियंत्रित हो तो मनोभावना (वेदना) शान्त हो जाती है जिससे तृष्णा का लोप हो जाता है और बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार कुशल–मनोवृत्ति अर्थात् सद्‌गुण ही बन्धन से मुक्ति का हेतु है।

बुद्ध कहते हैं कि मन के नियंत्रण में भी मध्यममार्ग अपनाना चाहिये क्योंकि मध्यममार्ग ही चक्षुओं को प्रकाश देता है और निर्वाण की ओर ले जाता है।[24] वासनाओं का दमन एवं वासनाओं का भोग – दोनों ही अतिवाद है। इन दोनों का मध्यमार्ग यह है कि मन को शान्त किया जाय तथा वासनाओं से ऊपर उठा जाये। दमन से तो चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है जो चित्त को शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। साधना के लिये शान्त–चित्त की आवश्यकता होती है। दमन में तो स्वयं के प्रति हिंसा करनी पड़ती है। बौद्धधर्म स्वयं की हिंसा का भी निषेध करता है। दमन के कारण दबी हुई मन की वृत्तियाँ भले ही जाग्रतावस्था में न उठें, किन्तु स्वप्नावस्था में तो ये वृत्तियाँ मन को मथ डालेंगी। इसलिये बुद्ध मन की वृत्तियों के दमन के विरूद्ध हैं।

बौद्धधर्म मानता है कि इन्द्रियों के दमन से नहीं अपितु उनके प्रशिक्षण से, जिससे कि वे सत्य को अनुभव कर सके, मन सुसंस्कृत अर्थात् सद्‌गुणी होता है। सुसंस्कृत मन ही कुशल–कर्म की जननी है जिससे तृष्णा का लोप हो जाता है, तृष्णा के पूर्ण समाप्ति से उपादान निरूद्ध हो जाता है, उपादन के निरूद्ध से भव, इसी प्रकार भव के निरूद्ध से जाति (जन्म), जाति के निरूद्ध होने से जरा–मरण, शोक–पीड़ा, चिन्ता एवं जीवन की सारी व्याधियाँ ही खत्म हो जाती हैं।[31] यही शान्ति है, यही श्रेष्ठता है, यही सभी संस्कारों का शमन, सभी चित्तमलों का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग–स्वरूप एवं निरोध–स्वरूप निर्वाण है।[25] जब अविधा–प्रेरित अकुशल–कर्मों से विरत होने तथा कुशल–कर्मों के सम्पादन हेतु साधक चार आर्यसत्यों का ध्यान करते हुये आष्टांगिक–मार्ग का अनुशरण करता है तब सद्‌गुण का विकास होता है, उसका अन्तःकरण तृष्णा–रहित हो जाता है और वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् :–

दुःखनिरोध करने के उपायभूत मार्ग को ही दुःखनिरोधगामिनी–प्रतिपद् कहा गया है। यह आठ अंगों से युक्त होने के कारण 'अष्टांग–मार्ग' (अस्ठंगिकं मग्गम्) से भी जाना जाता है।[26] आष्टांगिक मार्ग साधना का वह मार्ग है जिसमें प्रायः कुशल–कर्मों का समावेश हो जाता है, जिनका अनुसरण कर मनुष्य अपने दुःखों से मुक्त हो सकता

है। आष्टांगिक मार्ग को 'मध्यममार्ग' या 'मध्यम–प्रतिपद्' भी कहा गया है।[27] ये आष्टांगिक मार्ग हैं–

(1) सम्यक्–दृष्टि (सम्मादिठ्ढि):– सम्यक्–दृष्टि या सत्य–विश्वास साधना–पथ का पहला चरण है। बुद्ध–वचनों में श्रद्धा एवं आर्यसत्यों का सच्चा ज्ञान ही सम्यक्–दृष्टि है। मिथ्या–दृष्टि से प्रभावित होकर मनुष्य नश्वर संसार को अविनाशी और दुःखमय अनुभूतियों को सुखमय समझता है। इस मिथ्या–दृष्टि का अन्त सम्यक्–दृष्टि से ही सम्भव है। 'दृष्टि' का तात्पर्य 'ज्ञान' है। सत्कार्य के लिये ज्ञान की भित्ति आवश्यक होती है। विचार की भित्ति पर ही आचार खड़ा होता है। धम्मपद में कहा गया है कि जो दोषमुक्त कार्य को दोषमुक्त जानकर तथा दोषरहित कार्य को दोषरहित जानकर यथार्थ धारण करते हैं, वे प्राणी सम्यक्–दृष्टि को धारण करके सद्गति को प्राप्त होते हैं।

(2) सम्यक्–संकल्प (सम्मा–संकल्प):– सम्यक्–दृष्टि सर्वप्रथम संकल्प में रूपान्तरित होता है। आर्यसत्यों के ज्ञान के अनुरूप आचरण करने का दृढ़ निश्चय सम्यक्–संकल्प है। धम्मपद में कहा गया है कि जो असार को सार और सार को असार समझते हैं, वे मिथ्या–संकल्प में पड़े व्यक्ति सार को प्राप्त नहीं करते हैं, लेकिन जो असार को असार और सार को सार समझते हैं, वे सम्यक्–संकल्प से युक्त व्यक्ति सार को प्राप्त करते हैं।

(3) सम्यक्–वाक् (सम्मा–वाचा):– सम्यक्–वाक् सम्यक्–संकल्प की अभिव्यक्ति अथवा उसका वाह्य–रूप है। मिथ्यावचन से विरति सम्यक्–वाक् है। निर्वाण–मार्ग का अनुसरण करनेवाले साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह वाणी की पवित्रता बनाये रखे। उसे अपनी वाणी पर नियंत्रण करते हुये मिथ्यावादिता, निन्दा, दुर्वचन और वाचालता से बचना चाहिये तथा सदैव सत्य वचनों की रक्षा करनी चाहिये। एक व्यक्ति सम्यक्–वाक् का पालन तभी कर सकता है, जब वह निरन्तर सत्य और प्रिय वचन बोलता है।

(4) सम्यक्–कर्मान्त (सम्मा–कम्मन्त):– सम्यक्–संकल्प के अनुरूप सत्यभाषी एवं प्रियभाषी होने के बावजूद भी कोई व्यक्ति बुरे कर्मों को अपनाकर पथभ्रष्ट हो सकता है। दीधनिकाय के अनुसार हिंसा, चोरी और काम मिथ्याचार से विरत रहना सम्यक्–कर्मान्त कहलाता है। धम्मपद में वर्णित है कि जो वीर पुरूष कर्म, वाणी और मन से संयत रहते हैं, वास्तव में वे ही सुसंयमित हैं। मनुष्य को चाहिये कि सब प्रकार के बुरे कर्मों का परित्याग कर पंचशील का आचरण करें।

(5) सम्यक्–आजीव (सम्मा–आजीव):– शारीरिक एवं वाचिक दुष्चरित्रता को छोड़कर परिशुद्ध कार्यों द्वारा अपनी जीविका चलाना सम्यक्–आजीव कहलाता है। मानव–मात्र को शरीर–रक्षण के लिये कोई न कोई जीविका ग्रहण करना ही पड़ता

है। परन्तु यह जीविका पवित्र होनी चाहिये, जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का कष्ट हो और न उसके हिंसा का अवसर आये। बुद्ध ने पाँच जीविकाओं को हिंसा–प्रवण होने के कारण अयोग्य ठहराया है– शस्त्र (सत्थ), प्राणि (सत्त), मांस (मंस), शराब (मज्ज) और विष का व्यापार। इसी प्रकार दीधनिकाय में भी कुछ व्यापारों को त्याज्य माना गया है– तराजू की ठगी, फंस यानी बटखारे की ठगी, माप अर्थात् माप की ठगी, रिश्वत, वचना, कृतघ्नता, सायियोग यानी कुटिलता, छेदन, वहा, बंधन, डाका, लूट–पाट।

(6) सम्यक्–व्यायाम (सम्मा–बायाम):– यह शुभ की उत्पत्ति और अशुभ के निरोध हेतु सतत् प्रयत्न है। वाणी और कर्मों की धर्म की ओर सहज प्रवृत्ति केवल तभी हो सकती है जब उनकी प्रेरक भावनाएँ भी शुद्ध हों। इसलिये साधक को सतत् प्रयत्न करना चाहिये कि मन से पुराने बुरे भावों को पूरी तरह नाश हो जाये तथा मन में नये बुरे भाव न आये। इन्द्रियों पर संयम, बुरी भावनाओं को रोकने, अच्छी भावनाओं का उत्पाद एवं उन अच्छी भावनाओं का संरक्षण – ये चार प्रयत्न सम्यक्–व्यायाम हैं। सम्यक्–व्यायाम के द्वारा साधक बुरे विचारों का परित्याग करता है तथा अच्छे विचारों को धारण करता है जिससे उसमें सद्गुण का संचार होता है।

(7) सम्यक्–स्मृति (सम्मा–सति):– निर्वाण–मार्ग का अनुशरण कर रहे साधक के लिये सम्यक्–दृष्टि एवं सम्यक्–संकल्प के साथ यह आवश्यक है कि उसे इसका सम्यक्–स्मृति रहे। साधक को संसार की निःसारता एवं क्षणभंगुरता का सदैव स्मरण रखना चाहिये साथ ही शारीरिक एवं मानस भोग्य–विषयों एवं काम, लोभ, मोह आदि भावों में अनित्यता एवं अशुचिता की भावना रखनी चाहिये। ऐसे स्मरण द्वारा संसार के प्रति आसक्ति से साधक दूर रह पाता है। दीधनिकाय के अनुसार चार स्मृति–उपस्थान हैं– कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धम्मानुपश्यना।[28] इन चारों स्मृति–उपस्थानों की भावना करने को सम्यक्–स्मृति कहा गया है। शरीर को क्षणिक या विनाशी समझना कायानुपश्यना है, वेदना को सुखात्मक, दुःखात्मक तथा उभयात्मक समझना वेदनानुपश्यना है, चित्त के सराग और विराग रूपों को जानना चित्तानुपश्यना है और धर्म को कामना, द्रोह आदि से रहित जानना धम्मानुपश्यना है। इस प्रकार शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और मानसिक अवस्था (चेतसिक) को मानसिक अवस्था के रूप में ही चिन्तन करते रहना आवश्यक है। इनमें से किसी के सम्बन्ध में यह नहीं समझना चाहिये कि 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है'। हम स्वभावतः शरीर, चित्त, वेदना तथा मानसिक अवस्था को नित्य और सुखजनक समझते हैं, जिस कारण इनके प्रति आसक्ति रहती है। साधक को इन बातों का सतत् स्मरण रखना आवश्यक है।

वस्तुतः सम्यक्–स्मृति सम्यक्–समाधि की स्थिति पर पहुँचने के लिये अतिआवश्यक पूर्वकांक्षित स्थिति है।

(8) सम्यक्–समाधि (सम्मा–समाधि):– 'समाधि' का अर्थ होता है– समाधान। समाधि को परिभाषित करते हुये विशुद्धिमग्गो में कहा गया है कि कुशल–चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।[29] उपर्युक्त सात नियमों का सम्यक् अनुसरण करने पर साधक की चित्तवृतियाँ शान्त हो जाती हैं और वह सम्यक्–समाधि में प्रवेश करनेयोग्य हो जाता है। अष्टांगिक–मार्ग के उपर्युक्त सात नियम सम्यक्–समाधि की पूर्वपीठिका है जिसमें समाधि के निमित्त सम्यक्–स्मृति की विशेष आवश्यकता पड़ती है। मज्जिमनिकाय में कहा गया है कि स्मृति–उपस्थान के चार प्रकार समाधि के निमित्त हैं, जबकि चारों प्रकार के सम्यक्–व्यायाम समाधि की सामग्री है।[30]

बुद्ध का आष्टांगिक–मार्ग त्रिविध साधना–मार्ग में समाहित है। प्रज्ञा, शील और समाधि – इस मार्ग के तीन प्रधान अंग हैं। अष्टांग–मार्ग इसी साधन–त्रय का पल्लवित रूप है। 'प्रज्ञा' के अन्तर्गत सम्यक्–दृष्टि और सम्यक्–संकल्प आते हैं। शील में सम्यक्–वाक्, सम्यक्–कर्मान्त, सम्यक्–आजीव और सम्यक्–व्यायाम का समावेश होता है। 'समाधि' में सम्यक्–स्मृति और सम्यक्–समाधि आते हैं। 'शील' का सामान्य अर्थ सदाचार होता है, जिसके द्वारा कायिक एवं वाचिक शुद्धि होती है, 'समाधि' कुशल–चित्त की एकाग्रता का द्योतक है, जिससे चित्त परिशुद्धता को प्राप्त करता है तथा 'प्रज्ञा' ज्ञान का अधिवचन है, जिससे धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। बुद्ध के सारे उपदेशों का सार बुद्धि–विकल्पों से ऊपर उठकर शील–समाधि–प्रज्ञा द्वारा निर्वाण प्राप्त करना है।

'शील' का अर्थ है सत्कर्मों को करना और असत्कर्मों से बचना। 'शील' बौद्ध साधना का आधार है क्योंकि शील में प्रतिष्ठित होने पर ही समाधि की सम्भावना सम्भव है।[31] अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा मद्य–निषेध – ये 'पंचशील' प्रत्येक बौद्ध के लिये विहित है। भिक्षुओं के लिये अन्य पाँच शीलों का विधान हैं; ये हैं– असमय भोजन, माला–धारण, संगीत–नृत्यादि, स्वर्ण–रजतादि तथा सुखद शैया का त्याग। एक बौद्ध–साधक को साधना–पथ पर अग्रसर होने के लिये इन दस शीलों को सम्यक् धारण करना अनिवार्य माना गया है।[32] शील के सम्यक् साधना से कुशल–चित्त का विकास होता है जिससे चित्त में स्थिरता आती है और साधक समाधिस्थ हो पाता है जिससे प्रज्ञा प्रतिफलित होती है।

समाधि की साधना से चित्त की एकाग्रता द्वारा प्रज्ञा की अनुभूति होती है। समाधि के अन्तर्गत चार प्रकार के ध्यान का वर्णण मिलता है–

प्रथम ध्यान सवितर्क, सविचार और प्रीतिसुख वाला है। इस अवस्था में वह शांतचित्त से आर्यसत्यों का वितर्क तथा विचार करता है जिसके कारण साधक की तृष्णा मिट जाती है और वह अपूर्व आनन्द एवं शान्ति की अवस्था में प्रवेश करता है।

ध्यान की दूसरी अवस्था में प्रगाढ़ चिन्तन के कारण वितर्क तथा विचार शान्त हो जाने से साधक के सभी सन्देह दूर हो जाते हैं तथा आर्य–सत्यों के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है। ध्यान की इस अवस्था में अपूर्व शान्ति तथा चित्त की अपूर्व स्थिरता का उदय होता है किन्तु आनन्द एवं शान्ति का ज्ञान कायम रहता है।

ध्यान की तीसरी अवस्था में साधक चित्त से आनन्द एवं शान्ति के प्रति उपेक्षा–भाव लाने की साधना करता है जिससे काम–क्रोधादि विकारों का शमन हो जाता है और चित्त साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। यह ध्यान सुख–दुःखातीत चेतना की अवस्था है, जहाँ साधक समाधि में प्राप्त आनन्द के प्रति भी उदासीन रहता है किन्तु दैहिक सुख का भाव बना रहता है।

ध्यान की चौथी अवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है जहाँ चित्त में साम्यावस्था, दैहिक–सुख एवं ध्यान के आनन्द – किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। यह पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण विराम और पूर्ण निरोध की अवस्था है। यह सुखदुःखातीत अवस्था है, जहाँ दुःखों का एकान्तिक व आत्यान्तिक रूप से निरोध हो जाता है तथा प्रज्ञा (बोधि) की उपलब्धि होती है।

बौद्ध साधना–पथ पर अग्रसर साधक जैसे–जैसे ध्यान की उच्च भूमि पर अग्रसर होता है, कुशल–चित्त (सद्‌गुण) का विकास होते जाता है तथा उसकी प्रज्ञा प्रकाशित होती जाती है। 'प्रज्ञा' श्रुतमयी (आप्त प्रमाणों से उत्पन्न निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) और भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय) मानी गयी है।[33] भावनामयी प्रज्ञा (बोधि) चतुर्थ ध्यान में प्रकाशित होता है। इससे कामाश्रव (भोग की इच्छा), भवाश्रव (जन्मने की इच्छा) और अविद्याश्रव (अज्ञानमल) का आत्यान्तिक नाश हो जाने से साधक जन्म–मरण–चक्र से मुक्त हो जाता है।[34] बोधि–प्राप्त साधक का चित्त 'ब्रह्मविहार' करता है। ब्रह्मविहार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्था है जहाँ चित्त सहज ही शील में प्रवृत्त रहता है। मैत्री, करूणा, मुदिता तथा उपेक्षा – इन चारों भावनाओं का समवेतरूप 'ब्रह्मविहार' है। दुःखी सत्वों के प्रति आत्मीय स्नेह करनेवाला भाव 'मैत्री' है, दूसरों के दुःखों का उपनयन करना 'करूणा' है, सुखी सत्वों को देख मुदित होना 'मुदिता' है तथा राग–द्वेषादि से रहित हो समत्वभाव में रहना 'उपेक्षा' है। यह ब्रह्मविहार सद्‌गुणसम्पन्नता की अवस्था है।

संदर्भः–

1. 'मार' वह शक्ति है जो प्रलोभन और बुराई का साकार रूप है।

2. चन्द्रकीर्तिवृत्ति, 1.1
3. विनयमिटक, महावग्ग, 1.1.1–5
4. दीधनिकाय, 2.2
5. विशुद्धिमग्ग, 17.306
6. 'सब्बे संखारा अनिच्चा। यदनिच्चं तं दुक्खं, दुक्खं यं दुक्खं तदनता, यदनत्ता तं नेतं मम, ने सोमस्मि, न मे सो अत्ता ति; संयुक्त निकाय, 22.15
7. दीघनिकाय, 15, महानिदानसूत्र।
8. मज्झिमनिकाय, i पृ0 37
9. संयुक्तनिकाय, iii पृ0 120
10. मज्झिमनिकाय, 1.38
11. धम्मपद, 11.1
12. संयुक्तनिकाय, 1.14.13
13. धम्मपद, 11.146
14. संयुक्तनिकाय, 12.3.4
15. बसुबन्धु, अभिधर्मकोश, 3.20
16. बुद्धघोष, विशुद्धिमग्ग, 16
17. लंकावतार सूत्र, 10.145
18. मज्जिमनिकाय, 3.45
19. धम्मपद, यमकवग्ग, 1–2
20. लंकावतार सूत्र, 145
21. अंगुत्तर निकाय, 3.33
22. धम्मपद, गा0, 166,183; अंगुत्तर निकाय, 10.254
23. धम्मपद, 33–35
24. विनयपिटक, 1.1.7
25. अंगुत्तर निकाय, 2.32
26. संयुक्तनिकाय, 5.12
27. संयुक्तनिकाय, 15.12
28. धम्मपद, 234
29. मज्झिमनिकाय, खंड 3; अंगुत्तरनिकाय, खंड 2
30. धम्मपद, 246–247
31. दीधनिकाय, महालिट्टानसुत्त
32. धम्मपद, 4.1
33. अभिधर्मकोश, 6.5
34. दीघनिकाय, 2, सामंजफलसुत्त

———————